'ब्रह्म सत्यं जगत् स्फूर्तिः, जीवनं सत्यशोधनम्'

विनोबा-प्रवचन

(सप्ताह में तीन बार—मंगल, गुरु और शनि को प्रकाशित)

वर्ष ३, अंक २१ | वाराणसी, मंगलवार, १७ फरवरी, १९५९ | पचीस रुपया वार्षिक

प्रार्थना-प्रवचन

कपासन (राज०)५-२-'५९

प्रताप की प्रतिज्ञा का नवीनीकरण

चित्तौड़ जिले में हमारी यात्रा ६ दिन रहेगी। हम आशा करते हैं कि इतने दिनों में इस जिले के समस्त गाँवों के लोग कहीं न कहीं हमारे पड़ावों पर पहुँचेंगे एवं समझेंगे। सबने सर्वोदय-प्रवृत्तियों के बारे में कुछ-न-कुछ समझ लिया तो हमें उम्मीद है कि इस क्षेत्र में बहुत काम हो सकेगा।

पहली बात तो आपको यह समझानी है कि यह हमारी यात्रा जो ८ साल से चलती है, उसका उद्देश्य क्या है? हिन्दुस्तान को स्वराज्य प्राप्त हुए आज ११ साल हो गये। अब यह १२ वाँ साल चल रहा है। इतने वर्षों में हम लोगों ने कुछ काम किये हैं और वे महत्त्व के काम हैं, जैसे हिन्दुस्तान में सबको मतदान का अधिकार दे दिया गया। १९५२ व १९५७ में दो बार प्रजा ने मतदान के अधिकार का उपयोग भी किया है। आज जो सरकार काम कर रही है, लोगों की चुनी हुई सरकार है, यह एक बहुत बड़ी बात हिन्दुस्तान में हुई। राजा की सत्ता की जगह प्रजा की सत्ता आयी। हिन्दुस्तान में लगभग ५०० से भी ज्यादा राजा-महाराजा थे। उन लोगों ने अपना समर्पण कर दिया और सारा भारत एक हो गया, यह एक बहुत बड़ा काम हिन्दुस्तान में हुआ। शरणार्थियों की एक गंभीर समस्या अपने देश में थी, उसे हल करने में भी बहुत ताकत लगी। उसका कुछ हद तक निबटारा हुआ। पहली पंचवर्षीय योजना पूरी हुई, दूसरी चल रही है और तीसरी की तैयारियाँ हो रही हैं। ऐसे कुछ काम भारत में किये गये हैं।

योजनाओं में सहकार का अभाव

अब एक शिकायत रह गयी है और वह एक बड़ी गंभीर शिकायत है कि भारत सरकार की तरफ से जो योजनाएँ होती हैं, उन योजनाओं से जितना उत्साह लोगों में पैदा होना चाहिए और लोगों का जितना सहकार और सहयोग मिलना चाहिए, उतना नहीं मिलता है। जब तक लोग अपनी तरफ से अपनी योजना नहीं करते हैं, गाँव-गाँव के लोग नहीं उठ खड़े होते हैं और अपने गाँव का कारोबार हमें ही सँभालना है, ऐसा ग्राम-संकल्प नहीं करते हैं, तब तक सरकारी योजनाओं तथा सरकारी प्रयत्नों से हिन्दुस्तान बहुत आगे बढ़ सकेगा, ऐसी उम्मीद नहीं रख सकते हैं! सरकार की तरफ से जो योजना होती है, उसमें लोगों का सहकार कैसे प्राप्त करना, यह सवाल आज बहुत लोगों के सामने है। जो लोग अभी चीन में होकर आये हैं, वे कहते हैं कि वहाँ जो सरकार की तरफ से योजनाएँ होती हैं, उसमें वहाँकी जनता काफी उत्साह से भाग लेती है और वहाँ देखने से उसका कारण मालूम पड़ता है कि वहाँकी जनता को, गरीबों को, भूमिहीनों को यह विश्वास हो गया है कि सरकार हमारा भला चाहती है। यह विश्वास कैसे हुआ? चीन में जो जमीन थी, वह उन लोगों ने सबके सब परिवारों में वितरित कर दी। भूमिहीनता मिटा दी। इससे लोगों में बहुत उत्साह आया। उसके बाद सरकारी योजनाओं में जनता ने उत्साहित होकर सहकार दिया। चीन की जनसंख्या हिंदुस्तान से अधिक है। वहाँ ६० करोड़ लोग हैं, जब कि यहाँ ४० करोड़ लोग हैं। ऐसी हालत में भी उन्होंने अपने देश के लिए जितना चावल चाहिए, उतना ही नहीं, बल्कि उससे भी ज्यादा चावल पैदा कर लिया है। अब वे अपना अन्न दुनिया के दूसरे देशों में बेचते हैं।

यह नाममात्र का स्वराज्य

चीनवालों ने इतना अधिक अन्न पैदा कर लिया है और इधर हिन्दुस्तान की यह हालत है कि हमें हर साल १०० करोड़ रुपये का अनाज बाहर से मँगवाना पड़ता है। यद्यपि हमारा देश कृषि-प्रधान देश माना जाता है। सबसे बड़ी चीज और सबसे उत्तम धंधा हम खेती को मानते हैं। ऐसे कृषि-प्रधान देश में हर साल १०० करोड़ रुपये का अनाज बाहर से मँगवाना पड़ता है। इसलिए हम सब लोगों को शर्मिन्दा हो जाना पड़ता है। राष्ट्रपति ने भी एक व्याख्यान में कहा कि जब तक इस तरह से बाहर से अनाज मँगवाना पड़ेगा, तब तक गाँव के लोगों को उत्साह नहीं आयेगा। हमारे लिए, हमारे गाँवों के लिए, सारी योजनाएँ दिल्ली में हों और हम ऊपरवाले के पाबन्द होकर काम करें, इसमें लोगों को उत्साह नहीं आयेगा। इसलिए गाँव की योजना गाँववाले स्वयं करें और उस योजना को अपने ही बल से पूरा करने का निश्चय करें। सरकार की तरफ से जो सहायता मिल सकती है, वह लें। योजना में मुख्य शक्ति लोगों की रहे और सरकार की गौण रहे। ऐसा जब होगा, तब लोगों में उत्साह आयेगा।

हमारा देश आजाद है। अब हमारे समस्त देहात भी आजाद

हैं। विदेशी लोग यह समझते हैं कि हिन्दुस्तान के किसान, मजदूर और सभी जाति के लोग आजाद हो गये हैं, क्योंकि उन्हें मतदान का हक मिल गया है, परन्तु ऐसा नहीं है। अभी तक देहात के लोगों को अपनी निर्माण-शक्ति पर विश्वास कहाँ है? ऐसा आत्मविश्वास जब तक पैदा नहीं होगा, तब तक स्वराज्य नाममात्र का रहेगा। यह ठीक है कि मत देते हैं तो ५ साल में एक नाटक हो जाता है, लेकिन लोग यह महसूस नहीं करते हैं कि हम अपने बल से काम कर सकते हैं। वे हर काम में सरकार पर दारोमदार रखते हैं। रचनात्मक कार्यकर्ता भी गुलाम बन गये हैं। उनकी दशा देखकर तो दया ही आती है।

खादी और व्यापार

सन ४२ के आन्दोलन में जब अंग्रेजों ने यहाँके लोगों को बहुत दबाया था, काम करनेवालों को जेल में डाला था, खादी-वादी सब खत्म हो गयी थी, तब जेल से छूटने के बाद गांधीजी ने कहा कि 'अंग्रेज सरकार औरों को दबाये, यह मैं समझ सकता हूँ परन्तु वह खादी को दबाये, यह मैं हर्गिज़ सहन नहीं कर सकता। सब लोग दब जायँ। लेकिन खादी अपना सिर उठाकर के खड़ी रहे। गाँव-गाँव में उसका प्रचार हो।' उन्होंने कहा कि अब खादी केवल व्यापार की चीज नहीं रहनी चाहिए। बिक्री के लिए खादी का उत्पादन करें, लोग खादी खरीदें और मजदूरों को उससे कुछ मजदूरी मिल जाय, खादी का अर्थ इतना भर नहीं है। खादी ग्राम-स्वराज्य का चिह्न है। हिन्दुस्तान को आजादी प्राप्त करने में खादी ने जो मदद पहुँचायी, वह कोई भूल नहीं सकता। यह सबको मालूम है कि खादी ने क्या-क्या पराक्रम किया। अंग्रेजों ने सारे देश को दबाया, तब खादी दब गयी। इससे गांधीजी ने दुःख प्रकट किया। उस तरफ हमारे कार्यकर्ताओं का ध्यान कहाँ गया? अभी खादी सरकारी मदद के अधिष्ठान पर चली है। जनशक्ति के बल पर खादी को खड़ा नहीं किया गया है। खादी गाँवों को स्वावलम्बी बनाने में सक्षम है, पर वैसा करने की खादीवाले कोशिश नहीं कर रहे हैं। आज उनकी स्थिति पूरी तरह व्यापारियों जैसी है। सभी रचनात्मक कार्यकर्ता पस्तहिम्मत-से हो गये हैं। उन्होंने मरने तक जीने का प्रण कर लिया है तो औरों की क्या चलेगी? इसलिए जनता अपनी शक्ति से कुछ काम करे। यह मैं देखना चाहता हूँ।

हिन्दुस्तान में सरकारी दबाव या कानून के बिना भी ४० लाख एकड़ जमीन भूदान में प्राप्त हुई। ८ लाख एकड़ जमीन का बँटवारा हुआ, शेष जमीन बँट रही है। लोग काम में लगे हुए हैं। जनशक्ति से इतना-सा कुछ काम हुआ।

प्रताप की ख्याति

इसी काम में दूसरी बात यह हुई कि ८ साल में चार-पाँच हजार ग्रामदान हुए हैं। आपके इस राजस्थान में भी डूंगरपुर जिले में १००-१२५ ग्रामदान हुए हैं और यहाँ भी आज दो ग्रामदान सुनाये, लेकिन इसकी गति बढ़नी चाहिए। इस उदयपुर डिवीजन के लोगों को प्रताप करना चाहिए। इसको प्रताप के नाम से ही भारत के लोग जानते हैं। बाकी उनको कुछ भी मालूम नहीं है। उदयपुर में ३५ लाख लोग रहते हैं और हिन्दुस्तान में ३५ करोड़ लोग! १०० में से एक मनुष्य यहाँ रहता है। हिन्दुस्तान के इन ३५ लाख लोगों में से किसके नाम पर यह उदयपुर डिवीजन पहचाना जाता है? तमिलनाड, केरल और बंगाल में उदयपुर तथा चित्तौड़गढ़ का नाम राणाप्रताप के नाम से मालूम है। दूसरा कोई नाम उनको मालूम ही नहीं है। क्या आप लोग एक राणाप्रताप के नाम से ही जीयेंगे? वैसे कब तक जी सकेंगे? एक नाम को बदनाम करने का धंधा करके जीवन बिताओगे तो एक सफेद कागज पर काली स्याही डालने से सब काला ही काला हो जाता है, वैसा हो जायगा। इसलिए राणाप्रताप के नाम के बाद अब दूसरा नाम निकलना चाहिए।

एक मनुष्य के पराक्रम से उत्थान होता था। वे दिन अब लद गये। अब जनता का पराक्रम होगा। सभी मिलकर देश का उत्थान करेंगे। यह विज्ञान का जमाना है। इस जमाने में जो संकल्प होंगे, वे सामूहिक होंगे। पहले राणाप्रताप ने यह निश्चय किया था कि जब तक स्वराज्य हासिल नहीं करूँगा, तब तक गद्दी पर नहीं सोऊँगा। वे इस संकल्प की पूर्ति के लिए अनलंध्य डूंगरों, पर्वतों और जंगलों में भटकते फिरे। उनके उस संकल्प का हम नवीनीकरण करें। हम सब लोग निश्चय करें कि जब तक हम ग्राम-स्वराज्य की स्थापना नहीं करेंगे, तब तक गद्दी पर नहीं सोयेंगे। आप लोगों में से जो व्यक्ति ऐसा निश्चय करते हैं, वे अपना हाथ उठायें। (यह सुनकर बहुत सारे बच्चों ने और कुछ बड़े लोगों ने अपने हाथ उठाये) लड़के समझ गये कि जब तक हम ग्राम-स्वराज्य की स्थापना नहीं करते हैं, तब तब हमको गद्दी पर सोने का अधिकार नहीं है। बहुत अच्छी बात है। लड़कों ने यह निश्चय कर लिया तो मेरा काम हो गया। फिर भले ही दूसरे लोग गद्दी पर सोते रहें। वे तो यहाँ-पर चन्द दिनों के लिए हैं। यही लड़के हैं, जो आगे जाकर नागरिक होनेवाले हैं। इसलिए इस डिवीजन में ग्रामदान तय है। लड़कों के अलावा और भी दूसरे लोग हैं, जिन्होंने हाथ ऊँचे किये हैं। मुझे यह अच्छा लगता है कि ठीक समझकर बहुत लोगों ने हाथ ऊँचे नहीं किये हैं। लेकिन जिन्होंने हाथ ऊँचे किये हैं, वे पक्के हैं कि नहीं, यही जरा देख लें। जिन्होंने निश्चय किया कि जब तक ग्राम-स्वराज्य की स्थापना नहीं करेंगे, गद्दी पर नहीं सोयेंगे, वे फिर से उठ खड़े हो जायँ। (सारे बच्चे और कुछ बड़े लोग उठ खड़े हुए) जब हम ऐसे प्रण करते हैं, तभी आगे बढ़ते हैं। हम अब जरूर आगे बढ़नेवाले हैं। अब यहाँ ग्रामदान की बुनियाद पर ग्राम-स्वराज्य की स्थापना होगी। तभी भारत में लोक-शक्ति जागृत होगी। सरकार के कामों के बदले लोग अपनी ताकत से काम करें और सरकार अपनी है, वह मदद देने के लिए बँधी हुई है, परन्तु अपनी योजना तो हम ही बनायेंगे और इसके वास्ते अपने सेवक भी खड़े करेंगे। सरकारी सेवक सरकारी योजना लोगों के पास पहुँचानेवाले होते हैं, इसलिए हम अपने बल पर सेवक-सेना खड़ी करें। गाँव में ग्रामदान और घर में सर्वोदय-पात्र और सेवा करने के वास्ते हरएक गाँव से सेवक!

यह कार्यक्रम जनशक्ति निर्माण करने का और लोकनीति की स्थापना करने का कार्यक्रम है।

जैसे आप लोगों से अभी प्रण करवाया कि तब तक गद्दी पर नहीं सोयेंगे, जब तक ग्राम-स्वराज्य की स्थापना नहीं होगी, वैसे ही हम प्रतिज्ञाबद्ध हुए हैं कि हमारी यात्रा तब तक जारी रहेगी, जब तक इस शरीर में प्राण हैं, पाँवों में ताकत है एवं जबान में बोलने की शक्ति है। या तो शरीर गिरेगा या यह काम पूरा होगा। इस तरह प्रतिज्ञाबद्ध होकर हम घूम रहे हैं। आपसे ग्राम-स्वराज्य का प्रण करवा के हम आगे बढ़ना चाहते हैं। मुझे खुशी हुई कि यहाँ लोगों ने साथ दे दिया है, लेकिन हम चाहते हैं कि प्रण के पीछे क्या बात है, वह भी आप समझ लें।

स्वराज्य मिल गया तो क्या हिंदुस्तान में सब चीज हो गयी ? हिन्दुस्तान में अभी भी बहुत गरीबी, अज्ञान और बीमारी है, आर्थिक और सामाजिक वैषम्य है। इसे मिटाना है। इसे मिटाने के लिए ही यह एक नयी प्रतिज्ञा है, नया अवतार है। हमारे देश में भगवान ने नये लडके भेजे। उनके वास्ते यह नयी प्रतिज्ञा है। इतनी गंभीर प्रतिज्ञा तुम लोग कर रहे हो तो अब भगवान की प्रार्थना करके उनका बल प्राप्त करो।

●●●

शिक्षक सम्मेलन में

कडीयादरा (साबरकाँठा) ९-१-'५९

तालीम और नित नयी तालीम

यह कहना अनुचित न होगा कि शिक्षा के विषय में हमारे देश को पश्चिम से विशेष कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं है। जिस जमाने में सारी दुनिया में अज्ञान छाया हुआ था, उस जमाने में भारत में ज्ञान की प्रभा सर्वत्र फैली हुई थी और उसे फैलाने में शिक्षण-शास्त्र पूरी शक्ति से काम कर रहा था। उन दिनों हमारा शिक्षा-शास्त्र अत्यधिक विकसित हो चुका था। इसके उदाहरण वेद, उपनिषद् तथा पुराणों में पाये जाते हैं।

हमारे देश की यह विशेषता थी कि शिक्षा पर कभी भी किसी राजसत्ता का अंकुश नहीं रहता था। जनता ही उसे चलाया करती थी। जनता के हाथ में शिक्षा होने पर उसमें तरह-तरह के प्रयोग हो सकते हैं। किन्तु वही राजसत्ता के अधीन होने पर, भले ही वह सत्ता लोक-तान्त्रिक हो, विविध प्रयोग नहीं हो पाते और एक ही रंग में, जिससे वह सरकार रंगी रहती है, शिक्षा भी रंग जाती है। वास्तव में शिक्षा पर किसी भी सत्ता का अंकुश न होना चाहिए। भले ही वह उसे मदद दे, पर उसका मार्गदर्शन नहीं चल सकता। शिक्षा का काम तो विद्वानों की मदद से ही होना चाहिए और वे विद्वान शिक्षा देने के बारे में सर्वथा स्वतन्त्र रहें। उनकी विशेष योग्यता देखकर उस-उस प्रकार की शालाएँ ही समाज में चलनी चाहिए। जो जिस विषय में पंडित हो, उसके अनुकूल ही पाठशालाएँ देश में चलें। भले ही सरकार और जनता उस शाला को मदद दे, किन्तु शिक्षा सम्बन्धी नीति-निर्धारण आचार्यों के ही अधीन रहे। अधिक-से-अधिक आचार्य बालकों के माता-पिताओं या अभिभावकों से परामर्श कर सकते हैं और उनकी रुचि एवं सुविधा देखकर बालक को अपने ढंग से शिक्षित कर सकते हैं। विद्यार्थी बालक के एक ओर माता-पिता रहें तो दूसरी ओर गुरु। तीसरे की कोई आवश्यकता नहीं है। राजा भी पिता के नाते अपने बच्चे के लिए आचार्य को सलाह दे सकता है, राजा के तौर पर नहीं। उपनिषद् में इसी पद्धति को अपनाया गया है। इसीलिए वहाँ कहा गया है कि 'मातृवान् पितृवान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'। याने माता-पिताओं से और आचार्य से ही बालक शिक्षा पाये। तभी वह पूर्ण छात्र कहा जा सकता है। माता-पिता बालक को शिक्षा दें और उसकी पूर्ति में आचार्य उसे शिक्षित करे। दोनों से मिलकर छात्र का शिक्षण पूरा हो।

तालीम में विचार-स्वातन्त्र्य का स्थान

प्राचीन काल में ऐसा ही शिक्षण चलता था। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में अत्यधिक विचार-स्वातंत्र्य पाया जाता है। उतना विचार-स्वातंत्र्य शायद ही कहीं देखने को मिले! हिन्दू धर्म में आस्तिक और नास्तिक दोनों दर्शनों का समावेश होता है। दोनों एक-दूसरे पर खुलकर प्रहार करते हैं, चर्चा करते हैं और एक-दूसरे का खण्डन करने के लिए मन्थन करते रहते हैं। फिर भी दोनों को हिन्दू धर्म की ओर से मान्यता है। संस्कृत साहित्य में इतने स्वातंत्र्य का कारण यही है कि हमने शिक्षण पर शासन का अंकुश न रखने का नियम बना रखा था।

बहुतों की धारणा है कि अंग्रेज जब हिन्दुस्तान में आये तो यहाँ कुछ शिक्षा थी ही नहीं। किन्तु यह सच है कि प्राचीन काल में शिक्षा संबंधी जैसा वातावरण था, वैसा वातावरण उस समय नहीं था। अंग्रेज दूर देश से आये और यहाँ जम गये। इसका कारण राजाओं की लापरवाही और व्यापारियों की बेईमानी थी। अंग्रेजों ने इसीसे लाभ उठाया। उन्होंने अच्छी सबल सेना खड़ी कर और व्यापार में साख रखकर ग्राहकों और लोगों के हृदय को जीत लिया। देश विशृंखलित हो गया था, इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक ही था। फिर भी एनीबेसेण्ट के एक भाषण और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उल्लेख से स्पष्ट है कि उन दिनों भी यहाँ शिक्षा का सर्वथा अभाव नहीं था। उक्त उल्लेखों में कहा गया है कि उन दिनों बंगाल के गाँव-गाँव में पाठशालाएँ थीं, जो ग्राम-पंचायतों द्वारा चलायी जाती थीं। इसीपर से मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि न केवल बंगाल ही, बल्कि तमिलनाड़, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों की भी उन दिनों शिक्षा की दिशा में यही स्थिति थी। अतः अंग्रेज आये, उस समय यहाँ शिक्षा का सर्वथा लोप हो गया था, यह नहीं कहा जा सकता।

अंग्रेजों को शासन चलाने के लिए नौकरों की जरूरत थी, इसलिए उन्होंने ऐसी शिक्षा-पद्धति चलायी, जिससे नौकरों का निर्माण हो। परिणामस्वरूप देश में अंग्रेजी पढ़ा-लिखा एक वर्ग खड़ा हो गया। जो लोग ऊपर की जातियों के थे, वे ही यह विद्या पढ़ पाये और शेष अशिक्षित रहे। उन्होंने ऐसा शिक्षित वर्ग बनाया, जो इस दूसरे अशिक्षित वर्ग से बातें भी नहीं कर सकता था। इस तरह शिक्षित और अशिक्षितों के बीच एक बड़ी दीवाल ही खड़ी हो गयी। अंग्रेजों के आने से यह एक बात अवश्य हो गयी। अंग्रेज आये तो अपने साथ यंत्रविद्या भी लेते आये। परिणामस्वरूप ग्रामोद्योग सर्वथा टूट गये। इतना ही नहीं, समझ-बूझकर उन्हें नष्ट करने की व्यवस्था भी की गयी थी। इसके फलस्वरूप ग्राम-पंचायतें भी मिट गयीं और उनके मिटने से ग्राम-पाठशालाएँ भी टूट गयीं। सरकार जो पाठशाला चलाये, वही चल सकती है, यह स्थिति देश में पैदा हो गयी। इस तरह यहाँका सारा शिक्षण सरकार के हाथ में चला गया।

राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता

फिर हमारे देश के नाते लोग जागे और उन्हें लगा कि इस शिक्षा से तो ऐसे लोग तैयार ही नहीं हो सकते, जो कल स्वराज्य मिलने पर देश का उत्तरदायित्व वहन कर सकें। इसलिए एक बगावत के रूप में उन्हें राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता महसूस हुई। रवीन्द्रनाथ टागोर, स्वामी श्रद्धानन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी जैसे अनेक लोगों ने मिलकर राष्ट्रीय शिक्षण की शुरूआत की। उन दिनों कितने ही लोग पूछते थे कि राष्ट्रीय शिक्षण का अर्थ क्या है ? क्या उसमें आज जैसे गणित, भूगोल आदि विषय भी रहेंगे या दूसरे होंगे ? तब उन्हें बताना पड़ता था कि राष्ट्रीय शिक्षण में मुख्य वस्तु संस्कारिता, देशाभिमान, लोक-प्रेम

आदि हैं। अंग्रेजी शिक्षा में यह सब नहीं है। इसलिए इसमें हम लोग यही सब सिखलाते हैं।

इस तरह ये राष्ट्रीय शालाएँ चल पड़ीं। इसमें विद्या की दृष्टि से बहुत विद्वान लोग नहीं निकले, लेकिन कर्तृत्ववान या क्रियाशील अवश्य निकले। उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ताओं में भी क्रियावान पुरुष ही श्रेष्ठ हैं। विद्याविहीन भी क्रियावान हो तो वह क्रियाविहीन ब्रह्मविद् से श्रेष्ठ होता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो राष्ट्रीय शालाओं से निकले हुए लोग कम ज्ञानी होने पर भी अधिक त्यागी, अधिक हिम्मती, अधिक प्राणवान और अधिक क्रियावान सिद्ध हुए तथा उन्होंने स्वराज्य के काम में काफी भाग लिया। इस तरह उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा को चरितार्थ किया। इन सभी शालाओं पर सरकार की वक्र दृष्टि हुई और उसने इनपर झड़प डाली। यही बतलाना है कि इन राष्ट्रीय शालाओं ने कितना वीर्य और पराक्रम बतलाया।

फिर आया स्वराज्य! अपने देश की सरकार बनी। तब तो सभी शालाएँ बिना कुछ किये ही राष्ट्रीय शालाएँ बन गयीं। कल तक जो अंग्रेजों के नौकर थे, वे आज अनायास ही राष्ट्र के सेवक बन गये। असहयोग आन्दोलन में बापू ने इन सबसे सरकारी नौकरी छोड़ देने के लिए कहा था। यदि ऐसा किया जाता तो तीसरे ही दिन स्वराज्य मिल जाता, क्योंकि अंग्रेज इन्हींके सहारे राज्य करते थे। उसके लिए बीस-तीस वर्षों का विलम्ब न होता। किन्तु हर कोई यही सोच रहा था कि मैं छोड़ दूँ और दूसरे न छोड़ें तो मेरा क्या होगा? वे ही लोग स्वराज्य होते ही राष्ट्र-सेवक बन गये।

इस प्रकार स्वराज्य के बाद सभी शालाओं के राष्ट्रीय बन जाने पर स्वराज्य से पूर्व की राष्ट्रीय शालाओं को जो सूझना चाहिए था, वह नहीं सूझा और इस तरह स्वराज्य-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय शिक्षा की अवनति ही हुई, जब कि उसकी और भी उन्नति होनी चाहिए थी। इन राष्ट्रीय शालाओं ने भी सरकारी मदद माँगना शुरू कर दिया। अब शान्ति-निकेतन जैसी संस्था भी साधारण युनिवर्सिटी जैसी बन गयी है, यह तो आप जानते ही हैं। वहाँ संगीत और चित्रकला अधिक होगी, लेकिन शेष अन्य युनिवर्सिटियों से इसमें विशेष अन्तर नहीं रहा है। श्रीमालवीयजी की उस युनिवर्सिटी (हिन्दू विश्वविद्यालय) का हाल आप जानते ही हैं! मैं उसकी चर्चा यहाँ नहीं करता। आर्यसमाज वालों की भी पहले स्वतन्त्र शिक्षा-संस्थाएँ थीं। वे अपनी डिग्रियाँ देते और उसीके आधार पर डिग्री पानेवाले को समाज में प्रतिष्ठा देते थे। अब तो वे लोग भी अपना सब कुछ छोड़कर सरकार से मदद माँगने लग गये हैं। अभी-अभी मैं जोनगढ़ हो आया हूँ। उन सब संस्थाओं का भी यही हाल है।

राज्याश्रित शिक्षण का पंगुपन

अभी तक इन सभी संस्थाओं की प्रतिष्ठा लोकाश्रित थी, लेकिन इन लोगों ने भी सरकार अपनी कहकर उससे मदद लेना और माँगना शुरू कर दिया। इस तरह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय पाठशालाएँ स्वतन्त्रता के बाद नष्ट हो गयी हैं। एक आध कोई हो तो अलग बात है। उसके प्रति अन्याय न हो, इसलिए मैं यह कह रहा हूँ। बाकी जहाँ तक मैं जानता हूँ, वहाँ तक आज अधिकतर सभी समस्याएँ बिना सरकारी मदद के नहीं चलतीं। यह सोचने का समय आ गया है कि अब क्या किया जाय? राष्ट्रीय शिक्षण का विचार किस तरह आगे चलाया जाय? इतना गंभीर वातावरण उपस्थित हो गया है कि यदि हम इसका हल नहीं कर सके तो बहुत कुछ खो देंगे।

यदि सरकार का रंग ही शिक्षा का रंग हो तो जो आक्षेप विदेशी सरकार पर आता था, वही स्वदेशी सरकार पर भी आयेगा। आज केरल में कम्युनिस्टों का शासन है, इसलिए शिक्षा भी उन्हींके हाथ में है। कांग्रेसवाले शिकायत करते हैं कि "वहाँ सारी जनता को कम्युनिज्म सिखाया जा रहा है। स्कूलों में लेनिन और कार्लमार्क्स के चरित्र ही पढ़ाये जा रहे हैं"। किन्तु यह आक्षेप कांग्रेस सरकार पर भी आता है। उसकी इस दलील का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता। अतः सच्ची बात तो यह है कि शिक्षा पर किसी भी सरकार का अंकुश न होना चाहिए, भले ही वह कांग्रेसी हो, कम्युनिस्ट हो, सोशलिस्ट हो या जनसंघी। जनता जब ऐसा विचार करेगी, तभी शिक्षण से खतरा मिट सकता है। लोग ठीक रास्ते पर लग सकते हैं।

गुजरात में व्यवस्था-शक्ति है। यहाँ सारा दारोमदार नौकरी पर नहीं है। इसलिए यदि गुजरातवाले स्वतन्त्र शिक्षा चलाना चाहें तो मजे से चला सकते हैं। वे राष्ट्रीय शिक्षा को नयी बुनियाद डाल सकते हैं। स्वतन्त्र देश की राष्ट्रीय सरकार जो शिक्षण देगी, वह राष्ट्रीय शिक्षण ही होगा। अतः इस नये शिक्षण को अब 'राष्ट्रीय शिक्षण' नहीं, 'नयी तालीम' कहना चाहिए। वह 'राष्ट्रीय शिक्षण' था तो यह 'नया शिक्षण' या 'नयी तालीम' कहलाना चाहिए।

शिक्षा के साथ उद्योग

'नयी तालीम' को भी मैंने अब एक और शब्द जोड़ दिया है—'नित्य नयी तालीम'। 'शिक्षण विचार' के एक प्रवचन में मैंने इसके बारे में अपने पूरे विचार स्पष्ट कर दिये हैं। उसे आप लोग पढ़ें और घर-घर पहुँचायें, यह मैं चाहता हूँ। बात यह है कि जो नयी तालीम साल भर पहले निकली थी, वह अब पुरानी हो गयी है। उस समय सभी शिक्षकों का एक बुनियादी आधार कताई था। उस शिक्षण-योजना के सृष्टिकाल में मैं स्वयं उपस्थित था और वह मेरी ही योजना है। लेकिन अब मुझे लगता है कि शिक्षा-योजना का मुख्य आधार खेती और गो-रक्षण ही होना चाहिए। अन्य सभी आधार तो गौण होने चाहिए। अन्य उद्योगों में भी कताई-उद्योग प्रधान रहे। ये उद्योग छोटे-छोटे बच्चे भी कर सकते हैं, अतः इन्हें काफी गुन्जाइश है। कताई के साथ ही अन्य उद्योगों में लुहारी, रसोई आदि उद्योग भी होने चाहिए।

यद्यपि कताई हमारे देश का प्राचीनतम उद्योग है। पहले घर-घर में लोग कातते और हाथ-कता जनेऊ पहनते थे। शास्त्रों में तन्तुपट-न्याय, कुलालघट-न्याय आदि का उल्लेख है। इसलिए यह उद्योग घर-घर चलता था, इसके प्रमाण मिलते हैं। लेकिन वह घर का उद्योग, गृह-उद्योग हो गया, स्कूल का नहीं। पुराने लोग भी शिक्षा का मुख्य आधार तो खेती को ही मानते थे। इसके प्रमाण-स्वरूप सत्यकाम की कथा उपस्थित की जा सकती है। वह गुरु के पास पढ़ने गया तो गुरु ने उसे चार सौ गायें सौंप दीं और कहा कि 'आप यह काम कीजिये। जब तक चार सौ की चार हजार गायें नहीं हो जातीं, तब तक आपको दूसरा पाठ नहीं मिल सकता'। फिर वर्णन आता है कि वह सब लड़कों के साथ गायों को लेकर चल पड़ा, नदी-नालों एवं गिरि-कन्दराओं को पार करते समय बैल, पेड़-पत्ते आदि सभीने उसे ज्ञान सिखाया। दो वर्ष बाद सत्यकाम लौटा तो गुरु ने उसके चेहरे पर ज्ञान की कान्ति देखकर कहा: सौम्य! तेरा चेहरा ब्रह्मवेत्ता जैसा मालूम पड़ता है, तुम्हें ज्ञान किसने दिया?

सत्यकाम ने कहा : 'मनुष्यों को छोड़ औरों ने'। इस उत्तर में यह व्यंग्य भी झलकता है कि आपने तो बताया नहीं। फिर गुरु ने कहा : 'ठीक है, अब तो ज्ञान हो ही गया'! इसपर सत्यकाम ने कहा कि 'आप जैसों से सुना है कि गुरु के बिना विद्या नहीं मिलती। इसलिए आप ही मुझे विद्या बताइये'। गुरु ने उसे विद्या दी और फिर वह घर गया।

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन शिक्षा में ऐसी योजना थी कि मानव को प्रकृति के संपर्क से ही सब प्रकार का शिक्षण मिल जाता था। फिर उसकी पूर्ति के लिए जितना शिक्षण देना आवश्यक हो, उतना दिया जाता था। यही पुरानी बुनियादी पद्धति थी। सृष्टि से संपर्क स्थापित कर उससे ज्ञान प्राप्त करना ही मुख्य था। इसलिए नयी तालीम को नित्य-नयी तालीम कहना चाहिए और पुराने ढाँचे में उचित परिवर्तन करना चाहिए। इस तरह आज हमारे सामने दो समस्याएँ हैं : (१) राष्ट्रीय शिक्षण को किस तरह सुधारा जाय? राष्ट्रीय शिक्षण याने आज जो सरकारी शिक्षण चल रहा है, उसके दोषों को किस तरह मिटाया जाय? (२) नित्य नयी तालीम याने शिक्षा के नये प्रयोग किस तरह किये जायँ? यदि हम शिक्षण के इन दोनों प्रयोगों पर विचार करें तो दोनों मिलकर हिन्दुस्तान के शिक्षण का विचार बन सकता है।

शिक्षण को जनता एकदम अपने हाथ में ले ले, यह सम्भव नहीं है। जब तक यह नहीं होता, तब तक वह सरकार के हाथ में ही रहेगा। अतएव तब तक उसमें सुधार करने का विचार ही होगा। देश में ऐसी स्वतन्त्र पाठशालाएँ चलनी चाहिए, जिनसे सरकार का पथ-प्रदर्शन हो सके। 'स्वतन्त्र' का अर्थ है, उनपर सरकार का किसी तरह का अंकुश न होना। सरकार मदद करती हो तो वह चल सकती है। स्वतन्त्र पाठशाला की यह एक व्याख्या हुई! लेकिन कितने ही विद्यालय ऐसे भी हुआ करते हैं, जिनका सारा कार्यक्रम स्वतन्त्र ही होता है। उन विद्यालयों-वाले न सरकारी मदद लेते हैं और न सरकारी नियन्त्रण स्वीकार करते हैं। इस तरह देश में तीन प्रकार के विद्यालय होने चाहिए : (१) राष्ट्रीय शाला याने सरकारी शाला। (२) नित्य नयी तालीम की शाला, जिसमें सरकारी मदद तो ली जाय, पर उसका अंकुश न रहे और (३) मुक्त विद्यालय याने जिसमें सरकार से न तो मदद ली जाय और न उसका किसी तरह का अंकुश ही रहे, जो अपना स्वतन्त्र संशोधन करे, जिसमें राष्ट्र को मुक्ति की ओर ले जाने की शिक्षा मिलती हो।

नौकर या शिक्षक?

पहले प्रकार के सरकारी विद्यालय में शिक्षकों को उचित वेतन मिलना चाहिए। आज तो इन विद्यालयों में ऊपर से ही समय-पत्रक बनकर आता है कि शिक्षक इतने घंटे यह पढ़ायें और इतने घंटे यह। इस तरह सभी बातें ऊपर से ही तय होकर आती हैं। शिक्षक मानो मजदूर की तरह उनको अमल में लाने के लिए ही है। यह काम वह अच्छी तरह से करे तो अच्छा शिक्षक माना जाता है और यदि न करे तो वह अच्छा शिक्षक नहीं माना जाता। लेकिन यदि यह प्रश्न उपस्थित हो कि वह ऊपर से आनेवाले निर्देशों के अनुसार ही काम करे या उसमें कुछ उपयोगी सुधार भी कर ले तो राष्ट्रीय शिक्षण में इसका भी उत्तर मिलना चाहिए और उसमें उचित सुधार करना ही चाहिए। ऊपर से शिक्षकों को सर्वसाधारण सुझाव दिये जायँ तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन उसमें परिस्थिति के अनुसार सुधार करके ही शिक्षक काम करें। यदि ऐसा करने में शिक्षक की धाँधलियों से गाँवों को शालाओं के न चलने की आशंका मालूम पड़ती हो तो सुपरवाइजिंग कीजिये। आइये, देखिये और ठीक न चलता हो तो कहिये। लेकिन शिक्षक को यह छूट देनी ही होगी कि ऊपर से तय होकर आये हुए कार्यक्रम में वह घट-बढ़ कर सके।

वेतन के विषय में तो मैं यही कहूँगा कि शिक्षक जिस गाँव में काम करते हों, उन गाँववालों से कहा जाय कि यदि आप पसंद करते हों तो हम आपके विभाग में स्कूल चला सकते हैं, लेकिन प्रतिवर्ष आपको अपनी फसल का एक हिस्सा शिक्षक को देना होगा। उन्हें ऊपर से जो कुछ लगे, उसके लिए सरकार उन्हें वेतन देगी। इस प्रकार सरकार और जनता दोनों मिलकर जब शिक्षक के वेतन का प्रश्न हल करेंगे तो उससे दो लाभ होंगे। एक तो यह कि शिक्षकों का जनता से संपर्क स्थापित होगा और लोगों का उनपर अंकुश रहेगा, यानी जनता देखेगी कि ये ठीक काम कर रहे हैं या नहीं। दूसरा लाभ यह होगा कि आज हमारी सरकार की तिजोरी पर जो बहुत बड़ा बोझ है, वह कुछ हलका होगा। आज तो स्थिति यह है कि हमारी सरकार है तो गरीब, फिर भी वह तीन-तीन सौ करोड़ सेना पर खर्च कर रही है। उसमें तनिक भी काट-कसर नहीं हो सकती। शान्ति-सेना खड़ी हो जाय तो उसे कम करने की कुछ हिम्मत हो सकती है, पर आज नहीं है। फिर यदि कटौती की जाती है तो वह शिक्षा के क्षेत्र में ही। अतः मैं मानता हूँ कि सरकार की ओर से शिक्षकों को पैसे की और लोगों की ओर से अनाज की मदद मिले तो उनके वेतन की चिन्ता कम हो सकती है। मैं यह भी समझता हूँ कि लोग इस तरह देने के लिए तैयार भी हो जायँगे। साथ ही हमें यह भी समझना होगा कि हमारा देश गरीब है, इसलिए मोटी-मोटी तनख्वाह हमें नहीं मिल सकती। हमें कम पैसे में ही काम चलाने की वृत्ति बनानी चाहिए। वेतन के बारे में इस तरह की व्यवस्था होने में मुझे कोई बाधा नहीं दीखती।

आप सरकारी शिक्षा-पद्धति में सुधार कर सकते हैं, इस आशय का प्रस्ताव पास कर सरकार के पास भेज सकते हैं। लोकतन्त्र में इसी तरह उचित और सीमित हल-चल करनी चाहिए। शिक्षक केवल वेतन बढ़ाने की ही बात न करें। पसन्द पड़े तो ऐसे प्रस्ताव कर सरकार के पास भेजें। इसके बाद और कौन-कौन से सुधार करने चाहिए, इस विषय में अब यहाँ अधिक नहीं कहूँगा। कर्नाटक में अखिल भारत के डी. ई. आई. मुझसे मिलने आये, तब इसपर काफी चर्चा हुई थी। उसका उल्लेख भी 'शिक्षण-विचार' में है।

दूसरी नित्य नयी तालीम की पाठशाला ही हो तो क्या उतने से काम न चल जायगा? वह सरकारी मदद लेगी, पर सरकार का उसपर अंकुश न रहेगा। तब सरकारी मदद न लेनेवाली और उसके अंकुश से भी रहित तीसरे प्रकार की शाला की जरूरत ही क्या है? मैं कहूँगा कि दो ही काफी इसलिए हैं कि जहाँ शिक्षण-प्रयोग होते हों और लोगों की ओर से मदद मिलने में देर लगे या लोगों से मदद लेने में समर्थ न हो तो उत्तम शिक्षा-शास्त्रियों का उपयोग करने के लिए सरकार मदद दे, पर अंकुश न रखे और नाकाफी इसलिए है कि सरकार क्रान्ति-विद्या सिखला ही नहीं सकती। अच्छी-से-अच्छी सरकार क्यों न हो तो भी वह औसतन ही रहेगी। सभीके वोटों से बनी सरकार को "डेयरी फार्म" का दूध ही समझिये। उसमें अच्छी गाय का भी दूध रहेगा और बुरी का भी। सारा दूध निखालिस अच्छी गाय का नहीं कहा जा सकता। इसी तरह लोकतन्त्र भी औसतन होता है। लोकतांत्रिक सरकार मुक्ति की विद्या नहीं सिखा सकती। अधिक-

से-अधिक वह पुण्य की विद्या सिखा सकती है। मानव को पुण्य भी जकड़ रखता है, बाँध रखता है। इसलिए आज के समाज के मूल्यों को नष्ट कर नये मूल्य स्थापित करने की योजना सरकारी मदद के बिना ही हो सकती है। सरकार उसमें मदद दे ही नहीं सकती।

शालाएँ प्रयोगभूमि बनें

बातचीत के सिलसिले में कई बार बापू प्राद का सत्याग्रह सबसे बड़ा आदर्श बताया करते थे। लेकिन मैं उनसे कहता था कि सत्याग्रह का सच्चा आदर्श तो शुकदेव है। प्रह्लाद को तरह-तरह के भीषण कष्ट दिये और उसने चुपचाप सह लिये, यह सच है। लेकिन उसने पापी का ही प्रतिकार किया। पापी का प्रतिकार करना भी श्रेष्ठ है, लेकिन उससे श्रेष्ठ पुण्यवान का प्रतिकार करना है, क्योंकि वह पापी के प्रतिकार से कठिन होता है। शुकदेवजी घर से निकलकर भागने लगे तो पुण्यात्मा व्यासजी उनके पीछे दौड़ने लगे। पुण्यात्मा, महाज्ञानी को अनासक्ति कौन सिखा सकता है? वह काम कितना कठिन है? शुकदेवजी ने वही किया। अतः शुकदेव का सत्याग्रह सर्वश्रेष्ठ है। इसी तरह सरकारी अंकुश-रहित पाठशाला पुण्यवान शाला है, यह मैं भी मानता हूँ। लेकिन जो शाला सरकार की मदद न ले और उसके अंकुश से भी रहित हो वह सर्वोत्तम शाला मानी जायगी। स्वतन्त्र प्रयोग कर हमारा समाज आगे कैसे बढ़ पायेगा, इसका विचार और प्रयत्न ऐसी ही शाला करेगी। यह बहुत दूर का कदम है, बहुत आगे का शिक्षण है। यदि ऐसा शिक्षण देनेवाली पाठशाला और ऐसे शिक्षक देश में न हों तो वह हमारी कमी ही मानी जायगी और बातों के लिए 'इतना बस' चल सकता है, लेकिन शिक्षा में नहीं चल सकता है। वहाँ तो दूर दृष्टि अत्यावश्यक ही है। उसमें तो क्रान्त-दर्शन ही होना चाहिए। जहाँ जाना हो, वहाँका एक बिन्दु निश्चित कर लिया और जहाँ हैं, वहाँका बिन्दु निश्चित हो तो दोनों मिलकर एक रेखा होती है। वह दो छोर का एक रास्ता बन जाता है। फिर भले ही 'इतना कदम बस' कहे, किन्तु रास्ता बनाने के लिए तो ऐसे शिक्षक और ऐसी संस्था अत्यावश्यक है ही।

मानव का एक पूर्वरूप होता है, दूसरा उत्तररूप। पूर्वरूप से उत्तररूप विकसित हुआ करता है। बापू का पूर्वरूप उज्ज्वल था ही, किन्तु नोआखाली का उत्तररूप और भी उज्ज्वल बना। महापुरुषों के चरित्रों में यही बात पायी जाती है। जैसे-जैसे वे मृत्यु के निकट पहुँचते हैं, उनका रूप भी उज्ज्वल से उज्ज्वलतर, उज्वलतम होता जाता है, जब कि शरीर जीर्ण से जीर्णतर, जीर्णतम होता है। आचार्य पूर्वरूप होता है तो विद्यार्थी उत्तररूप। अतः उसे आचार्य से आगे बढ़ना ही चाहिए। ऐसा विद्यार्थी सरकारी स्कूलों में तैयार नहीं हो सकता। दूसरी प्रकार की शाला में तैयार होनेवाले विद्यार्थी जब आज की स्थिति से एक कदम आगे बढ़े हुए रहेंगे तो तीसरी प्रकार की शाला भी होनी ही चाहिए, जहाँ वे क्रांत दर्शन से समन्वित हो हिम्मतपूर्वक आगे बढ़ सकें। इसलिए इस तरह निश्चयपूर्वक आनेवाले विद्यार्थियों के निर्माणतार्थ तीसरे प्रकार के विद्यालय भी नितान्त आवश्यक हैं।

मैं शिक्षा के विषय पर बोलता रहूँ तो कब रुकूँगा, कह नहीं सकता। सुननेवाले कहा करते हैं कि बाबा नित्य कुछ नया ही कह डालते हैं। यह सारा मेरी कल्पना से ही निकलता है। लेकिन यह कल्पना नयी तालीम की नहीं, नित्य नयी तालीम की है। नयी तालीम रुक सकती है, पर नित्य नयी तालीम में हमेशा नया ही सूझता है। आज जो शिक्षण का नमूना सामने आता है, वह पाँच वर्ष बाद नहीं रहना चाहिए। विज्ञान-युग में नित्य नया सूझना चाहिए। नया शोध होना चाहिए। ● ● ●

फतेहनगर (राज०) ३-२-'५९

सघन-क्षेत्र-योजना के कार्यकर्ताओं के साथ

ये तीन प्रश्न !

विज्ञान अहिंसा की बुनियाद पर ही टिक सकता है।

प्रश्न—विज्ञान को अपनाने के लिए हमको ग्रामोद्योगी योजनाओं में प्रत्यक्ष क्या करना चाहिए?

विनोबाजी—अहिंसा और विज्ञान के साथ समन्वय होने से ही 'सर्वोदय' होता है। अहिंसा के बिना शोषण-मुक्त समाज-रचना नहीं हो सकती। विज्ञान के अभाव में समस्त लोगों को रोजगारी मिले, यह लगभग असंभव है। विज्ञान रोजगारी बढ़ा सकता है, किन्तु उसमें शोषण घटाने की क्षमता नहीं है। शोषण घटाने की क्षमता मनुष्य की योजना पर निर्भर करती है। इसलिए योजना अहिंसा की हो और उसके साथ विज्ञान का मेल हो, तभी 'सर्वोदय' होगा।

रोजगारी देने तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए हम औजारों का इस्तेमाल करें। वे औजार ऐसे हों, जिनसे सबको काम तो मिले, किन्तु अधिक परिश्रम न पड़े। हर मनुष्य को दस घंटे काम देने की योजना की जायगी तो वह असफल होनेवाली है। इतने घण्टे काम करना हर मनुष्य के लिए शक्य नहीं है, उचित भी नहीं है। इसलिए मनुष्य का श्रम बचना चाहिए, उत्पादन बढ़ना चाहिए और कोई बेकार भी नहीं होना चाहिए। हमारी इस दृष्टि के अनुकूल जो भी औजार हों, हम उनका उपयोग करें।

खेती के लिए आज अच्छे-से-अच्छे औजार हैं, उनका व्यवस्थित उपयोग किया जाय तो जो उत्पादन अभी है, उससे चार-पाँच गुना उत्पादन सहज ही बढ़ सकता है।

रस्सी बँटना! वह हाथों से बँटने के बजाय औजारों से बँटी जाय तो उतने ही समय में पाँच गुना बँट सकते हैं। छह गुना भी बँट सकते हैं। चार गुना तो मैंने स्वयं ही बँटा है।

सीने का काम! हाथ से सीने में जो कठिनाई होती है, उसका निराकरण 'सिंगर मशीन' से किया जा सकता है। वह मशीन उपयोग में ली जाय। कठिनाई दूर करने के बदले लोग काम से ही भागते हैं। आजकल सिलाई का काम बहनों से पुरुषों ने ले लिया है। ऐसा क्यों? मशीन के माध्यम से सिलाई का काम बहनें आसानी से कर सकती हैं।

बुनाई का काम भी एक आवश्यक उद्योग है। हाथ से बुना जाय तो ठीक है, अन्यथा क्षेत्रीय उद्योग के लिए 'पावर' का उपयोग किया जाय तो भी हर्ज नहीं है। मैं तो अणुशक्ति की प्रतिक्षा ही कर रहा हूँ। अणु-शक्ति विकेन्द्रित हो सकती है। गाँव-गाँव में विकेन्द्रित अणु-शक्ति का उपयोग हो सकता है। अगर वैसा हो तो मैं सहर्ष स्वागत करूँगा। अणु-शक्ति का उपयोग उत्पादन-वृद्धि कर दूसरे का शोषण करने में किया जाय तो गलत है। इसलिए अणु-शक्ति प्राप्त कर दूसरे क्षेत्र का शोषण न करे और न अन्दर-ही-अन्दर एक-दूसरे का शोषण करे तो मुझे उसके उपयोग में कोई विरोध नहीं है।

आज परंधाम आश्रम से मेरे लड़के आये थे। परंधाम में बिजली आयी है। मैंने उन लड़कों से कहा कि बिजली का पूरा

उपयोग होना चाहिए। रात में प्रकाश के लिए मैं उनका सहयोग नहीं चाहता हूँ। उसका मुख्य उपयोग उद्योग के लिए होना चाहिए। पानी खींचने, प्रेस चलाने आदि कामों में बिजली का उपयोग कर सकते हैं। मैंने उनसे पूछा कि रसोई में उपयोग कर सकते हो या नहीं? वे कहने लगे कि थोड़ा मुश्किल होता है, डबल रोटी बनाने में तथा सौ-दो सौ व्यक्तियों का भोजन बनाने में अच्छा उपयोग हो सकता है।

हाथ से आटा पीसने की प्रवृत्ति तो अब लगभग समाप्त हो रही है। हाथ से आटा पीसा जाय तो सर्वोत्तम है। यदि नहीं पीस सकें तो यन्त्र से पीसा जाय। इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। सिर्फ उनकी गति कम कर दी जाय, ताकि उष्णता से अनाज को हानि न हो।

आज पीसनेवाली चक्कियों में इतनी 'स्पिरिट' होती है कि उससे अनाज की शक्ति क्षीण होती है। एक दृष्टि से मैं इसे गुनाह मानता हूँ। परन्तु कम गतिवाले यन्त्र हों, किसीका शोषण न होता हो और गाँव की सामूहिक चीज हो तो मुझे ऐसे यन्त्रों का कोई उज्र नहीं है। इस तरह मेरा मन पहले से बना हुआ है।

बापू के साथ भी एक दफा इस तरह की चर्चा हुई थी। बहुत पुरानी बात है। मेरे पिताजी मगनवाड़ी में आये थे। वे यहाँ सात दिन रहे थे। उनको वहाँ बहुत अच्छा लगा। लेकिन उन्होंने कहा कि यह जो 'पल्प' बनाया जाता है, वह हाथों से बनाना गलत है। 'पल्प' यंत्रों से बनाना चाहिए। बाकी सब चीजें हाथों से बनायी जायँ। मेरे पिताजी एक वैज्ञानिक थे। उनकी कुल जिन्दगी विज्ञान की खोज में गयी थी। बचपन में वे मुझे विज्ञान सिखाते थे। विज्ञान के बारे में पिताजी से हमारी रोज चर्चा चलती थी और माँ के साथ रोज भक्ति की चर्चा होती थी। इस तरह विज्ञान और भक्ति इन दोनों की चर्चा बचपन से मैं रोज सुनता आया हूँ। मेरे पिताजी ने मेरे हाथ से विज्ञान के कई प्रयोग करवाये हैं। उन्होंने जो-जो बातें बतायी थीं, वही मैंने बापू से कही। मेरे पिताजी को सब लोग 'बाबा' कहते थे। मैंने बापू से कहा कि 'बाबा कह रहे थे कि कागज का पल्प यंत्र से करने में कोई दोष नहीं है।' इस तरह से यह बात कहकर बाबा बड़ोदा चले गये। उस समय वे वहाँ रहते थे। वहाँ जाकर उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा। उसके अंत में लिखा कि यह पत्र जो मैंने लिखा है, इसका सभी कुछ मैंने बनाया है। कागज भी मैंने बनाया है, स्याही भी मैंने बनायी है और लेखिनी, जिससे मैं पत्र लिख रहा हूँ, वह भी मैंने बनायी है। इस तरह कुल का-कुल पत्र स्वावलम्बी है। इस कागज में थोड़ा-सा दूसरा रंग रह गया है, बिलकुल सफेद कागज नहीं है, उस रंग को उड़ाने के लिए मेहनत पड़ती है, इसलिए मैंने उसको रहने दिया है। इससे कोई खास क्षति नहीं होती है। इस तरह एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति की मदद लिये बिना पूरा-का-पूरा कागज हाथ से बनाया। उसमें जो पल्प था, वह हाथ से बनाया हुआ था यन्त्र से बनाया हुआ नहीं था। उन दिनों बापू के साथ काफी चर्चा हुई थी कि पल्प का क्या किया जाय? बाबा की मृत्यु के दो-चार साल के बाद वही चर्चा फिर से निकली थी। अब तो शायद पल्प यन्त्र से ही बनता है।

चरखे की जगह जब अम्बर चरखा आया तो उसका स्वागत किया जाय कि नहीं, इसकी चर्चा चली। मैंने तो उसका पहले से ही स्वागत किया था। यद्यपि सर्व-सेवा-संघ के विचारकों ने उसे पहले ठीक नहीं समझा था और वह ठीक भी था। एकदम नये विचार का स्वागत होता है तो उसमें खतरे भी पैदा हो जाते हैं। मैंने कृष्णदास को कहा कि सर्व-सेवा-संघ में चर्चा चलती है, वह कुछ दिन चलेगी। परन्तु मेरी ओर से अम्बर चरखे का पूर्ण स्वागत है। फिर कृष्णदास ने जोर लगाया। अभी मैंने साबरमती में देखा कि उसने बहुत अच्छी प्रगति की है। वे उस चरखे को गृहोद्योग के लिए उपयोगी साधन बनाना चाहते हैं। हुबली में एक गुजराती भाई हैं, उन्होंने अपने घर में 'मगन चरखे' को बिजली लगायी है। उसपर एक मनुष्य कातता है और अपने घर के लिए पर्याप्त कपड़ा बना लेता है। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या यह खादी मानी जायगी? मैंने कहा, जी हाँ। अगर आप इसको बेचते नहीं हैं तो यह जरूर मानी जायगी। स्वावलम्बन के लिए बिजली का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार यन्त्रों का और विज्ञान का उपयोग औजारों की दुरुस्ती और औजारों को पावर लगाने में हो सकता है। परन्तु उसमें भी मर्यादा आती है। एक तो यह कि उसमें आंतर बाह्य शोषण न हो। दूसरा, योजनापूर्वक सुधार हो।

स्वावलम्बन की दिशा

प्रश्न—स्वावलम्बन के बारे में आपके क्या विचार हैं? स्थानीय स्वावलम्बन को महत्त्व दिया जाय तो कच्चा माल निर्यात करने के सम्बन्ध में कैसी नीति बरती जाय?

विनोबाजी—स्वावलम्बन दो प्रकार का होता है। अनिवार्य और ऐच्छिक। अनिवार्य स्वावलम्बन वह होता है, जिसे समाज छोड़ नहीं सकता, अगर छोड़ देता है तो सामाजिकता का पतन हो जाता है। जीवन की समग्रता नष्ट हो जाती है। जैसे खाने के बारे में हमारा समाज दूसरों पर आधारित होता है तो कालांतर से गुलामी आती है, प्राथमिक आवश्यकताओं में स्वावलम्बी होना चाहिए। क्षेत्र-स्वावलम्बन हो तो और भी ठीक है। अगर वैसा सम्भव न हो तो दस-बीस गाँव मिलकर स्वावलम्बी होना चाहिए। किसी खास मुल्क के लिए इस बारे में अपवाद किया जा सकता है। जहाँ अन्न पैदा नहीं होता, अपितु दूसरी ही वस्तुएँ पैदा होती हैं, वहाँके लोग अन्न से उन वस्तुओं का विनिमय कर लें। बाकी हर स्थान में अनाज और कपड़े के बारे में स्वावलम्बी होना चाहिए।

यदि गाँव में माल आवश्यकता से अधिक पैदा होता है तो उस माल का बाहर के क्षेत्रों में निर्यात किया जाय। कच्चे माल का पक्का माल यथासम्भव देहातों में ही बनाया जाय। लाचारी की हालत में पक्का माल बाहर बनाया जा सकता है। लेकिन अगर ज्यादा नहीं होता है तो स्थानीय कच्चे माल का पक्का माल वहीं बनाना अच्छा होता है।

अनिवार्य स्वावलम्बन साधते हुए ऐच्छिक स्वावलम्बन छोड़ा भी जा सकता है, उसका महत्त्व अपनी सहूलियतों पर है।

खादी और अहिंसक समाज

प्रश्न: अहिंसक समाज-रचना के लिए विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था आवश्यक है। इस हालत में आज की बड़ी-बड़ी केन्द्रीभूत संस्थाएँ खादी की उत्पत्ति और व्यापार करते हुए भी क्या अहिंसक-समाज रचना में मदद पहुँचा सकती हैं?

विनोबाजी: मेरे लिए यह दुःखदायी सवाल है। पुरानी घटना है। उस समय मैंने नालवाड़ी में एक सभा बुलायी। जमनालालजी वगैरह सभी आये। मैंने उन लोगों के सामने यह विचार प्रस्तुत किया कि कम-से-कम वर्धा में जहाँ दुनिया भर के लोग देखने आते हैं, बाहर की खादी न बेची जाय जाय! खादी स्वावलम्बी हो और स्थानीय उत्पत्ति की ही बिक्री हो। मैंने यह भी कहा कि खादी के साथ-साथ गांधीजी के दूसरे विचारों को जोड़कर काम करें। तब ग्रामोद्योग-संघ शुरू ही किया जा रहा था।

उन दिनों बापू सेवाग्राम में थे। उन्हें मैंने नहीं बुलाया था। उस समय मेरे इस प्रस्ताव के बारे में एक को छोड़कर अन्य सभीकी प्रतिकूल राय रही। जमनालालजी भी प्रतिकूल रहे! सब लोगों ने कहा कि बाहर का माल यहाँ बिकता है तो अच्छा ही है। दुनिया भर के लोग यहाँ आते हैं, अतः एक प्रदर्शनी के तौर पर होने से खपत भी खूब होगी। तुम्हारे मतानुसार तो उत्पत्ति-बिक्री कम हो जायगी। खैर, यह हुई १९३५ की बात।

१९४४ की बात है। सेवाग्राम में ही बापू ने फिर सभा बुलायी और उन्होंने अत्यन्त तीव्रता के साथ कहा कि आज जिस तरह खादी चल रही है, उससे तो अच्छा है कि वह नष्ट हो जाय। बापू ने कहा कि हमें पूरी तरह स्वावलम्बी होना ही चाहिए। किन्तु आज तक वैसा हो नहीं सका।

अब सरकार खादी को मदद कर रही है, लेकिन दरअसल खादी को मदद नहीं, संरक्षण की आवश्यकता है। मदद देकर तो सरकार खादीवालों को मिलवालों की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा कर रही है। इस होड़ में आप गिर न पड़ें, इसलिए वह थोड़ी-थोड़ी मदद करती है। कभी-न-कभी तो आप गिरनेवाले हैं ही, परन्तु आप एकदम गिर जायँगे तो आज बेकारों को जो मदद मिलती है, वह नहीं मिल पायेगी। इससे सरकार को विद्रोह की आशंका बनी रहेगी। अतः विद्रोह मिटाने के लिए मदद एक अच्छा माध्यम बन गया है। कल अगर बेकारी निवारण करने का मार्ग मिल जाय, तो सरकार आपको दी जानेवाली मदद के बारे में सोचने लग जायगी।

सरकार को वस्तुतः खादी को संरक्षण ही देना होता, तो वह एक निश्चित मात्रा में मिल वालों को दी जानेवाली मदद न देती। पर आज तो सीधा हिसाब है कि इतने-इतने लोगों को मिल के द्वारा रोजी मिलती है और इतने-इतने लोगों को खादी के द्वारा। दोनों को मिलाकर ही रोजी पूरी करनी है, इसलिए मैं जोर देकर कहता हूँ कि जैसे देश के स्वराज्य के लिए विदेशी माल का बहिष्कार किया गया गया था, वैसे ही ग्राम-स्वराज्य के लिए भी हमें बाहरी माल का बहिष्कार करना होगा।

ग्राम-स्वराज्य के लिए आवश्यक माल हम पैदा करें, उतना उत्पादन करना हमारे लिए कठिन नहीं है। ग्राम-स्वराज्य की भावना जब तक हम लोगों में जागृति नहीं होगी, तब तक खादी को लोगों का संरक्षण नहीं मिलेगा। इसीलिए आज जो खादी का काम चल रहा है, उसे मैंने 'पूर्व-क्रिया' कहा है। मनुष्य के मरणोपरान्त 'उत्तर-क्रिया' होती है। जलाने की विधि को उत्तर-क्रिया कहते हैं। मरने के पहले पूर्व-क्रिया होती है। मरण समय को नजदीक देखकर मनुष्य को 'ऑक्सीजन दिया गया। उसके बाद पाँच-दस मिनट मनुष्य और जिन्दा रह सकता है। किसी श्रीमान् को ऑक्सीजन नहीं दिया गया, तो वह पूर्व क्रिया विहीन मर गया, ऐसा कहा जायगा।

आज जो खादी का काम चल रहा है, वह खादी के मरने की पूर्ण-क्रिया है और सरकार की मदद को मैं ऑक्सीजन कहा करता हूँ। पिताजी २ बजे मरनेवाले हैं, उसके बदले २½ बजे मरेंगे। इतना और जिन्दा रह सकते हैं। यह निश्चित है कि दस-बीस साल में जब तक खादी खतम होती है, तब तक उसकी मदद करना है।

सरकार मदद करती है तो वह गलत काम करती है, ऐसा भी नहीं है। हम उसका उपयोग करते हैं और उसीके आधार पर रहते हैं, वह गलत है। हमें मदद का उपयोग नहीं करना चाहिए, ताकि लोग स्वावलम्बी बन सकें।

चाण्डिल में पंडितजी मिलने आये थे। मैंने उनसे कहा था कि जैसे पढ़ना-लिखना आवश्यक माना जाता है, वैसे ही कताई को भी अनिवार्य कर देना चाहिए। साक्षर बनाने में बीस साल लगे तो कताई की समस्त प्रक्रियाओं को बीस साल तक सिखाना ही चाहिए।

दूसरी बात मैंने उसके सामने यह भी रखी कि बुनने का उद्योग राष्ट्रीय उद्योग होना चाहिए। स्थान-स्थान पर जितने बुनकर हैं, उन्हें काम देना सरकार का कर्तव्य है। एक-एक ताल्लुके में काम देने की आवश्यकता नहीं है। दस-पाँच गाँवों में एक बुनकर बिठा दे, उस बुनकर का खर्च सरकार चलाये और राष्ट्र के हर नागरिक को औसत बारह गज कपड़ा सालभर के लिए चाहिए, वह मुफ्त बुनवा दे।

क्षेत्र-स्वावलम्बन के लिए प्रति व्यक्ति बारह गज कपड़ा चाहिए। उससे अधिक कोई माँग करे तो बुनकर पूरी मजदूरी ले। सरकार इतना भर कर दे तो राष्ट्र का बहुत बड़ा काम हो जायगा। इस योजना में शहरों को अपवाद करना होगा। शहरवाले खादी खरीदना चाहें तो विशिष्ट खादी खरीदें, अन्यथा मिल का कपड़ा पहनें। अम्बर चर्खे का अच्छा सूत हो तो डेढ़ रुपया दाम प्रति मनुष्य के पीछे लिया, ऐसा होगा। एक गज की बुनाई का दाम अगर दो आने माना जाय तो हर मनुष्य के पीछे डेढ़ रुपया खर्च होगा। ३६ करोड़ लोगों पर चौवन करोड़ रुपये खर्च होंगे, ऐसी यह योजना है।

इतने रुपयों में इससे अधिक आसान योजना क्या बनेगी? गाँव पूरे स्वावलम्बी हो जायँगे। खादी का आज जो व्यापार चल रहा है, वह भी बन्द हो जायगा।

चालीस गाँव में सर्व-सेवा-संघ ने खादी के काम को क्षेत्र-स्वावलम्बन के आधार पर खड़ा करने को तय किया है। अब वह अगला कदम उठाने की तैयारी में है। इसमें कोई शक नहीं कि आज जो चल रहा है, वह चन्द दिनों का है और देश पर एक बला है। लाचारी से वह चल रहा है, उससे मुक्त होना ही उत्तम कार्य है एवं अहिंसक समाज-रचना की दिशा में ठोस कदम है।

अनुक्रम

१. प्रताप की प्रतिज्ञा का नवीनीकरण...कपासन ५ फरवरी '५९ पृ० १५७
२. तालीम और नित नयी तालीम...कडियादरा ९ फरवरी '५९ „ १५९
३. ये तीन प्रश्न ...फतहपुर ३ फरवरी „ „ १६२

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ- प्रकाशन, राजघाट, काशी द्वारा भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में सम्पादित, मुद्रित और प्रकाशित
फोन : १२८५ तार-प्रकाशन, राजघाट, काशी।